

VRI Series No. 117

सत्य ही धर्म है

सत्यनारायण गोयन्क ।



विपश्यना विशोधन विन्यास,
धम्मगिरि, इगतपुरी- ४२२ ४०३,
महाराष्ट्र, भारत

विपश्यना: एक परिचय

श्री गोयन्काजी ने म्यंमा के महान विपश्यना आचार्य सयाजी ऊ बा खिन से सर्वप्रथम सन १९५५ में 'विपश्यना' की साधना सीखी। तब से अभ्यास का क्रम जारी रहा। सन १९६९ में भारत आये। व्यापार-धंधे से सर्वथा अवकाश ग्रहण कर भारत के विभिन्न स्थानों पर **विपश्यना** साधना-विधि के दस दिवसीय शिविर लगाते रहे। सन १९७६ में प्रमुख विपश्यना केंद्र 'धम्मगिरि' की स्थापना के पश्चात अब तक पूरे विश्व में लगभग ५० विपश्यना केंद्र स्थापित हो चुके हैं तथा अन्य नए-नए केंद्र खुलते चले जा रहे हैं, जहां साधकों के लिए निःशुल्क निवास तथा भोजनादि की स्थाई व्यवस्था रहती है। विपश्यना सिखाने का सारा खर्च कृ तज्ञ साधकों के दान पर निर्भर होता है। शिविरों का संचालन पूज्य गोयन्काजी तथा उनके द्वारा नियुक्त विश्व भर के लगभग ४०० से अधिक सहायक आचार्यों द्वारा किया जाता है। शिविर-काल के दौरान साधकों को बाहरी संपर्क से दूर, केंद्रों पर ही रहना अनिवार्य होता है।

भगवान गौतम बुद्ध द्वारा गवेषित 'विपश्यना' विद्या सर्वथा संप्रदायहीन एक प्रयोग प्रधान विद्या है जिसमें अपने भीतर की सच्चाई का दर्शन करते हुए अपने मन को निर्मल बनाना तथा ऋतयानी प्रकृति के नियम के अनुसार आचरण करने का अभ्यास किया जाता है। इसी को धर्म कहते हैं। कालांतर में हम **धर्म** शब्द का सही अर्थ भूल गये और संप्रदाय को ही धर्म मानने लगे। आज जबकि धर्म के नाम पर चारों ओर इतनी अराजकता फैली हुई है, यह सांप्रदायिकता-विहीन विद्या घोर अंधकार में प्रकाश-स्तंभ सदृश है।

ध्यान की यह विद्या सीखने के लिए हर संप्रदाय के लोग - चाहे वे हिंदू हों या मुस्लिम; जैन, ईसाई, बौद्ध हों या सिक्ख - सभी आते हैं। बच्चों से लेकर वृद्ध बुजुर्गों तक सब उम्र के लोग आते हैं। बहुत ऊंची शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी आते हैं तो दूसरी ओर बिल्कुल अनिर्क्षर अनपढ़ लोग भी आते हैं। अत्यंत धन-संपन्न भी आते हैं और बिल्कुल धनहीन भी। पुरुष-नारी तथा डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, व्यापार-उद्योगों के संचालक सभी आते हैं। किसी भी विपश्यना शिविर में समाज के हर वर्ग का यह अनूठा संगम आसानी से देखा जा सकता है। इतनी विविधताओं के होते हुए भी सभी लोग लाभान्वित होते हैं।

पूज्य श्री गोयन्काजी का यह लेख अधिक से अधिक लोगों को धर्म-मार्ग पर चल सकने के लिए प्रेरणा प्रदायक सिद्ध हो, यही मंगल भावना है।

विपश्यना विशोधन विन्यास.

मूल्य: रु. १/-

प्रकाशक :

विपश्यना विशोधन विन्यास

धम्मगिरि, इगतपुरी- ४२२४०३, जिला- नाशिक, महाराष्ट्र, भारत

फोन: ०२५५३- २४४०७६, २४४०८६, २४४३०२ फैक्स: ०२५५३- २४४१७६.

सत्य ही धर्म है

सत्य के अतिरिक्त धर्म की और क्या व्याख्या हो सकती है? सत्य ही धर्म है, असत्य अधर्म। यहां सत्य का अर्थ केवल वाणी की सच्चाई ही नहीं, बल्कि धर्म शब्द की भांति इसका भी वही व्यापक अर्थ है – यानी स्वभाव, गुण, नियम, विधान। प्रकृति के अपने गुण-स्वभाव हैं, नियम-विधान हैं। उन नियम-विधानों की, उन धर्मों की सच्चाई से सारा सजीव, निर्जीव चराचर विश्व बँधा हुआ है। इस व्यापक अर्थ में सत्य और धर्म पर्यायवाची शब्द हैं।

प्रकृति के स्वभाव की सच्चाई हम जितनी-जितनी समझें और स्वीकारें उतने-उतने धर्म को ही स्वीकारते हैं। सच्चाई तीन प्रकार से स्वीकरी जाती है। स्वीकारने का पहला कदम श्रद्धा की भूमिका से आरंभ होता है। किसी बुद्ध ने, ज्ञानी ने अपने बोधि-ज्ञान द्वारा मिली इस सच्चाई को शब्दों में व्यक्त किया। हमारे मन में उस महापुरुष के प्रति श्रद्धा जागी और हमने उसके शब्दों को स्वीकार किया। यह शब्द-सत्य को स्वीकारना हुआ। परंतु शब्द-सत्य में सच्चाई की परिपूर्णता नहीं हुआ करती। जब किसी अनुभूतिजन्य ज्ञान को शब्दों पर उतारा जाता है, यानी जब कोई सत्यद्रष्टा, ऋतद्रष्टा ऋषि शब्दस्रष्टा बनता है तो सत्य का कुछ अंश नष्ट हो ही जाता है। इसलिए शब्द-सत्य आंशिक सत्य ही होता है। क्योंकि शब्द और भाषा की अपनी सीमाएं हैं। उन्नत से उन्नत भाषा भी आंतरिक अनुभूतियों को स्पष्टतया व्यक्त कर सकने में असमर्थ रहती है और फिर सत्य-शोधकों की कुछ अनुभूतियां ऐसी हैं जो वर्णनातीत होती हैं। शब्दों द्वारा उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनके बारे में नेति-नेति ही कहा जाता है। कहनेवाला केवल इतना ही कहकर रह जाता है कि ऐसा तो नहीं है, ऐसा तो नहीं ही है। तीन आयामों को देखने-समझने वाले लोगों को चौथे आयाम की जानकारी किन शब्दों में करायी जाय? इंद्रियातीत अवस्था की अनुभूति इंद्रियों के माध्यम से कैसे समझायी जाय? समझाने की कोशिश करें तो कोई समझे भी कैसे? अतः हर समझदार आदमी के लिए इन अनुभवों की चर्चा करते हुए नकारने के सिवाय कोई चारा नहीं रहता। ऐसा परम सत्य कभी शब्द-सत्य बन ही नहीं सकता।

इंद्रियातीत अनुभूति के लिए तो शब्द असमर्थ हैं ही, परंतु इंद्रिय अनुभूतियों को भी शब्दों में ठीक-ठीक नहीं ढाला जा सकता। सूक्ष्मतर आंतरिक अनुभूतियां अधिकतर गूंगे का गुड़ ही बनी रह जाती हैं। व्यक्त करने के सभी प्रयत्न अधूरे रहते हैं। भाषा की सीमाओं के अतिरिक्त बोलने व लिखने वाले की और उससे भी अधिक सुनने व पढ़ने वाले की अपनी-अपनी सीमाएं हैं जो कि शब्द-सत्य के पूर्ण सत्य बनने में बाधक होती हैं। कहनेवाला जो कहना चाहता है उसे ठीक-ठाक कहन सके और जो कहे वह जिस अर्थ में कहा गया है, सुनने वाला उस अर्थ में समझ न सके, यही शब्द-सत्य की अपूर्णता है। परंतु फिर भी अनुभूतिजन्य सत्य को शब्दों में उतारने के प्रयत्न होते ही हैं। कुछ अंशों में उनका लाभ हुआ है और कुछ अंशों में हानि भी। जहां उन्हें खुले दिमाग में अपनाया गया, वहां लाभ हुआ। परंतु जहां उन्हें पूर्ण सत्य मानने की हठधर्मी हुई वहां सांप्रदायिक अंधविश्वास और अंध-मान्यताओं को बढ़ावा मिला। लोगों के दिमाग पर ताले लगे। सत्य अनुसंधान के क्षेत्र में मानव की प्रगति रुकी।

परंतु आखिर मानव तो मनुपुत्र है न? मन से उपजा है। मनन-चिंतन करके ही कि सी सत्य को स्वीकारना उसका जन्मजात सहज स्वभाव है। सांप्रदायिक नेताओं द्वारा उसके चिंतन-मनन की प्रतिभा को कुंठित कर उसे जड़भरत बनाये रखने के हजार प्रयत्नों के बावजूद भी मानव समाज का एक प्रबुद्ध वर्ग शब्द-सत्य को जांचने-परखने, बुद्धि के तराजू पर तोलने, तर्क की कसौटी पर कसने और, युक्तियों के हथौड़े की चोट लगाने का काम करता ही रहा है। इसी से सत्य का एक दूसरा स्वरूप उजागर हुआ जिसे अनुमान सत्य या बौद्धिक सत्य कहा गया। हर सच्चाई को बुद्धि की भट्टी में तपाया जाना चाहिए। उसकी जांच में दिमाग लगाया जाना चाहिए। युक्तियुक्त और तर्क संगत लगे तो ही स्वीकारना चाहिए। इसी नीति के कारण सत्य के अनुसंधान के क्षेत्र में मानव की प्रगति आरंभ हुई। अंधविश्वासों, अंधमान्यताओं और दकियानूसी सांप्रदायिक कठमुल्लेपन को गहरी चोटें लगीं। मानवीय विकास का रास्ता खुला। अंधश्रद्धा और भक्तिभावावेश के घुटनभरे माहौल से और शब्द-सत्य को संपूर्ण सत्य मानने के दुराग्रहभरे घने कुहरे से बाहर निकलने में सफलता मिली। कि सी बात को आंख मूंद कर मान लेने की आदत छूटी। ऐसा क्यों? यह जानने की उत्सुकता बढ़ी। परंतु जिस प्रकार शब्द-सत्य की मान्यता अधिकतर अंधविश्वासों से दूषित हो उठी, उसी प्रकार अनुमान यानी बौद्धिक सत्य की मान्यता भी बहुधा शुष्क तर्क-वितर्क के घने जंगल में ही भटक कर रह गयी। वैसे भी इन दोनों से यानी शब्द और अनुमान से सत्य का आभास ही हो सकता है, अनुभूति नहीं। सत्याभास यानी धर्माभास। और जहां धर्माभास होता है वहां धर्म के नाम पर भ्रांति फैलने की ही आशंका रहती है। सत्य की अनुभूति ही धर्म की सही अनुभूति है। अतः इन दोनों के आगे की कल्याणकारी मंजिल प्रत्यक्ष सत्य की मंजिल है। प्रत्यक्ष सत्य यानी स्वानुभूतियों के स्तर पर प्रकट हुआ सत्य। आध्यात्मिक सत्य के सूक्ष्म आभ्यंतरिक अनुसंधान की यही सही यात्रा है। यही धर्म की गहरी खोज है। इन प्रत्यक्ष अनुभूतियों द्वारा जितना-जितना सत्यांश प्रकट होता है मानव उतना-उतना धर्म-पथ पर आगे बढ़ता है।

परंतु अनुभूतियों के स्तर पर सत्य धर्म का स्वयं अन्वेषण कर उसे स्वीकारना कठिन काम है। जबकि अंधविश्वास के स्तर पर कि सी पराए कथन को स्वीकार कर लेना सरल है। इसीलिए मानव जाति के लंबे इतिहास में अधिकतर शब्द-सत्य के आधार पर अंधविश्वासी संप्रदाय ही पनपे। कुछ थोड़े से लोगों ने अंधविश्वास को टुकड़ा कर बुद्धि का प्रयोग किया। परंतु वे भी बहुधा अनुभूति के क्षेत्र में शून्य रह जाने के कारण बौद्धिक मत-मतांतरों वाले संप्रदायों के प्रणेता अथवा अनुयायी ही हो होकर रह गये। जहां आंतरिक अनुभूति होती है वहां सांप्रदायिक भेद-भाव के लिए गुंजाइश कम रहती है। अन्यथा शब्दों और बौद्धिक तर्क-वितर्कों की भिन्नता विभिन्न संप्रदायों का पोषण करती है। आंतरिक अनुभूतियां भी निष्पक्ष सत्य शोधन हेतु हों तो ही शुद्ध धर्म को बल देती हैं अन्यथा पूर्वाग्रहपूर्ण हों तो ये भी मत-मतांतरों को बढ़ावा देंगी।

वस्तुतः सत्य तो एक ही है। भिन्न-भिन्न कैसे होगा? समग्र प्रकृति का विधान एक ही है अलग-अलग कैसे होगा? परंतु कि सी की प्रत्यक्ष अनुभूति पर उतरा हुआ यह विधान जब वाणी का चोला पहनता है तो ये चोले अवश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। भाषा, शब्द, वक्ता भिन्न-भिन्न होने के

कारण सत्य भी भिन्न-भिन्न लगने लगते हैं। जब कोई भक्त किसी महापुरुष द्वारा अनुभूत सत्य को स्वयं अपनी अनुभूति पर तो उतारता नहीं, परंतु अंधश्रद्धाजन्य भावावेश के स्तर पर उसकी वाणी को स्वीकृति देकर ही अपने आपको धन्य मान बैठता है तो उस वाणी और उन शब्दों के साथ उसका गहरा चिपकाव हो जाना स्वाभाविक है। उसे वे शब्द ही सत्य नजर आते हैं, बाकी सब मिथ्या। यहीं से संप्रदाय की बुनियाद पड़नी शुरू होती है। सत्य का साक्षात्कार करने वाला किसी संप्रदाय से कैसे बँधेगा? परंतु शब्दों में लोट-पलोट लगाने वाला संप्रदाय का पोषण करता है। पहले के लिए भाषा महज माध्यम है, अतः गौण है। परंतु दूसरे के लिए भाषा और शब्द ही प्रमुख हैं। यदि मैं हिंदू संप्रदाय में हूँ तो “यम-नियम” शब्द का प्रयोग हुआ देख कर प्रसन्न हो उठता हूँ; बौद्ध हूँ तो “पंचशील”, जैन हूँ तो “अणुव्रत” और ईसाई हूँ तो “टेन कमांडमेंट्स” के शब्दों को सुन कर गर्व से छाती फुला लेता हूँ। लेकिन धर्म की वास्तविक सच्चाई जीवन में उतरी या नहीं, शील-सदाचार जीवन का अंग बना या नहीं, अपनी संकीर्ण सांप्रदायिक वृत्ति के कारण मैं इसे कतई महत्त्व नहीं देता। केवल शब्दों को ही ‘मेरा धर्म’ ‘तेरा धर्म’ कह कर अच्छे-बुरे की संज्ञा देता रहता हूँ।

“सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन, सम्यक चारित्र्य” इन शब्दों का प्रयोग किसी भी जैन को कर्णप्रिय लगता है। इसी प्रकार “शील, समाधि, प्रज्ञा” किसी बौद्ध को, “स्थितप्रज्ञ, अनासक्त” किसी गीताभक्त को और “होली इनडिफरेंस” का प्रयोग किसी ईसाई को। वैसे ही किसी को धर्म शब्द सुनते ही लगता है मानो कानों में चांदी की घंटियां बज रही हों और उसी व्यक्ति को ‘धम्म’ शब्द सुनते ही लगता है मानो छाती पर मूसलों के धमाधम्म धमाके लग रहे हों। इसके ठीक विपरीत किसी दूसरे व्यक्ति को “धम्म” शब्द में देव-दुंदुभी जैसा श्रुति-मधुर मंगल-घोष सुन पड़ता है और ‘धर्म’ शब्द उसे कांटे की तरह चुभता है। किसी आसक्ति पैदा कर ली है हमने शब्दों के साथ। इसी कारण इनके अर्थों की ओर ध्यान नहीं जाता और ध्यान चला भी जाय तो वह भी उतना ही बेमाने है जबकि अर्थ जीवन में उतरते नहीं। संप्रदाय और धर्म में यही मौलिक भेद है। संप्रदाय शब्दों को महत्त्व देता है और धर्म अर्थों को तथा उन्हें धारण करने को। हम अपने आपको हजार संप्रदाय-विहीन कहें, परंतु सच्चाई यही है कि हमारे लिए संप्रदाय प्रमुख हो गये हैं; इसीलिए शब्द प्रमुख हो उठे हैं, अर्थ गौण। प्रत्यक्ष अनुभूति तो लुप्तप्राय हो गयी है। जिसे देखो शब्द-सत्य के पीछे पागल है। बहुत थोड़े हैं जो अनुमान सत्य की ओर बढ़ते हैं। प्रत्यक्ष सत्य तक जाने की किसी को फुर्सत ही नहीं और कोई उसकी आवश्यकता भी महसूस नहीं करता।

हम हिंदुओं की बांछें खिल जाती हैं जबकि कोई गैर-हिंदू गीता का कोई श्लोक अपने भाषण में उद्धृत करता है। इसी प्रकार हम बौद्धों की व जैनियों की हृदयतंत्री के तार बजने लगते हैं जबकि कोई अबौद्ध या अजैनी धम्मपद या महावीर वाणी को अपने भाषणों में उद्धृत करता है। कैसा चिपकाव पैदा कर लिया है हमने अपने-अपने संप्रदाय की वाणियों से। जिस परंपरा और परिवेश में हम जन्मे और पले हैं उसके धर्म-ग्रंथों के प्रति श्रद्धा, आदर और झुकाव होने में कोई दोष नहीं, क्योंकि उन्हीं से हम प्रेरणा और मार्ग-दर्शन पाते हैं। परंतु दोष आसक्ति से है, चिपकाव से है। यह हमारे चिपकाव का ही परिणाम है कि यदि वही सच्चाई कोई अन्य संप्रदाय वाला अपनी भाषा में बोले और अपने महापुरुष द्वारा कही हुई बताए तो हमारा मन कि तना चिड़चिड़ा उठता

है। सच्चाई पराई-सी लगती है। इस चिपकाव का मुख्य कारण यही है कि हमारी श्रद्धा बांझ रह गयी। उसका कोई फल नहीं हुआ। हमने अपने धर्म-ग्रंथों की सच्चाई को महज श्रद्धा तक ही सीमित रखा। स्वानुभूतियों से उसका स्वाद चखा नहीं। अतः हमारे लिए तो सदा शब्द ही सत्य रहे हैं। और जिन शब्दों में यह सच्चाई कही गयी है वे हमारी परंपरा के हैं नहीं, इसीलिए हमारे लिए शब्दों के साथ-साथ सच्चाई भी परायी हो गयी है। परंतु जब हम उसी सच्चाई का स्वयं साक्षात्कार कर लेते हैं तो उसमें परायापन नहीं रह जाता। सत्य तो सत्य है, अलग-अलग कैसे होगा? संस्कृत, पाली, प्राकृत, हिब्रू, अरबी आदि विभिन्न भाषाओं के शब्द, शब्द-सत्य मानने वालों को अलग-अलग लगेंगे। परंतु इससे जरा आगे बढ़ें और थोड़ा-सा भी बुद्धि का प्रयोग करें तो यह बौद्धिक अनुमान-सत्य कई एक गुत्थियों को खोलने में सहायक होगा। सत्य से संबंध रखने वाली अनेक विभिन्नताएं दूर करेगा। परंतु जब स्वयं अनुभूतियों पर उतारने लगेंगे तो सच्चाई की सारी विभिन्नताएं शनैः शनैः दूर होंगी ही। सच्चाइयों में भेद नजर नहीं आयेगा, बशर्ते कि अनुभूति का प्रयोग पूर्वाग्रह-विहीन हो और सत्य शोधन के लिए ही हो।

सत्य न अपना होता है न पराया। न पुराना होता है न नया। न बूढ़ा होता है न जवान। न बर्मी होता है न भारतीय। न हिंदू होता है न मुसलमान। सत्य सत्य है – सदा एक-सा, सर्वत्र एक-सा। परंतु कि सी मान्यता को जब कोरीक पोल-कल्पनाओं पर आश्रित कर सत्य मानने लगते हैं तो विभिन्नता आती ही है। निष्पक्ष अनुभूतिजन्य सत्य में भेद नहीं हुआ करता। शब्द-सत्य और अनुमान-सत्य की सीमाओं को लांघ कर जब हम प्रत्यक्ष सत्य को महत्त्व देने लगते हैं तो मिथ्या कल्पनाओं की जड़ें हिलने लगती हैं। शुद्ध धर्म प्रतिष्ठापित होने लगता है। जो अनुभूतियों पर उतरे वही सत्य, ऐसा मान कर चलना धर्म के रास्ते पर चलना है। सत्य के, ज्ञान के, मुक्ति के रास्ते पर चलना है। ऐसे माहौल में अंधविश्वास टिक नहीं सकता। अनृत, झूठ पनप नहीं सकता। सत्य धर्म अनुसंधान का विषय है, अंधानुकरण का नहीं।

परंतु जहां संप्रदाय पनपता है वहां सांप्रदायिक नेता सत्य को समीप नहीं आने देते। सच्चाई को तर्क की कसौटी पर भी कसने नहीं देते। अनुभूतियों पर उतारना तो बहुत दूर की बात है। कहते हैं धर्म में अक्ल को दखल नहीं। कैसा धर्म है यह जिसमें अक्ल को स्थान न हो? बिना अक्ल, बिना बोधि का धर्म, धर्म कैसा हुआ? हां, यह ठीक है कि संप्रदाय में अक्ल का दखल नहीं होता, क्योंकि अक्ल आते ही संप्रदाय के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। वहां तो अंधविश्वास ही पनपता है, अनृत के धरातल पर अधर्म ही पनपता है। धर्म नहीं पनप सकता। जब आदमी अपने दिमाग को कैद कर लेता है तो सच्चाई का अनुसंधान स्वतः बंद हो जाता है। धर्म के पांव कट जाते हैं, उसकी आंखें फूट जाती हैं और वह लंगड़ा तथा अंधा होकर संप्रदाय बन जाता है। आदमी ने तब-तब सत्य की शोध करनी छोड़ी जब-जबकि “बाबा वचन प्रमाण” वाला गुरुडम उसके सामने दीवार बन कर खड़ा हो गया।

कि सी भी संकीर्ण बुद्धि वाले सांप्रदायिक नेता को यही भय बना रहता है कि मेरे बाड़े की एक भेड़ भी यह बाड़ा तुड़ा कर कि सी दूसरे में न जा मिले। मेरे सभी अनुयायियों का भेड़-बक रियों और गाय-बैलों का-सा अंधानुकरण वाला स्वभाव बना रहे। इसीलिए वह उन पर अपनी

सांप्रदायिक मान्यताओं की गहरी वारुणी चढ़ाए रखता है। अनेक बेतुकी व असंगत बातों को मानने के लिए मजबूर करते रहता है। न माने तो नारकीय यंत्रणाओं का आतंक और माने तो मुक्ति-मोक्ष का प्रलोभन देता रहता है। उसकी नजरों में धर्म भले छूटे पर संप्रदाय बना रहे। क्या दशा हो गयी है हम मनुपुत्रों की? मनन-चितन का स्वभाव क्या खो बैठे, अंधसंप्रदाय का भूत सिर पर सवार कर लिया। हम अपने-अपने धर्म-ग्रंथों को बिना सोचे-समझे सत्य मानें और दूसरे धर्म-ग्रंथों को बिना पढ़े ही असत्य मानें, ऐसा भावावेश हमारे भीतर कूट-कूट कर भर गया है। हमें धर्म से कोई लेना-देना नहीं। हमारे लिए संप्रदाय ही प्रमुख है। बुरे से बुरा अधार्मिक दुराचारी व्यक्ति भी यदि हमारे संप्रदाय में है तो भला, अन्यथा अच्छे से अच्छा धार्मिक सदाचारी व्यक्ति भी पराए संप्रदाय में है तो हमें आंखों नहीं सुहाता।

हम अपने मां-बाप से विरासत में जैसे अपनी शकल-सूरत पाते हैं, बोली-भाषा पाते हैं, वैसे ही अंधविश्वास व अंधमान्यताएं पाते हैं। अंधभक्ति का भावावेश पाते हैं। सांप्रदायिकता का वह आतंक प्रलोभन भी पाते हैं जो हमारी अंधमान्यताओं की जकड़ को मजबूत बनाता है। परंतु साथ-साथ मानवीय बौद्धिक संपदा के बीज भी पाते हैं। हम अपने मां-बाप से प्राप्त हुई शकल-सूरत नहीं बदल सकते, पर इन मान्यताओं को अपनी बुद्धि के प्रयोग से और अपनी अनुभूतियों के बल पर अवश्य बदल सकते हैं। जितनी काम की हों उन्हें रख सकते हैं, जो निकम्मी हों उखाड़ फेंक सकते हैं। अक्ल का बिल्कुल इस्तेमाल न करें, स्वानुभूतियों का जरा भी अभ्यास न करें तो बिना समझे ही उन अंधमान्यताओं को अपनी शकल व सूरत की तरह वैसे ही बनाये रखने की हर चंद कोशिश करते हैं।

सत्य धर्म के अनुसंधान में अंधमान्यताओं के साथ कोई समझौता नहीं हो सकता। जहां-जहां भी अंधमान्यताओं का आग्रह है, वहां धर्म नहीं संप्रदाय है, और समझना चाहिए कि कोई हमें स्वार्थवश या अज्ञानवश अपने बाड़े में बांधे रखना चाहता है। सत्य और धर्म के लिए विचार, विमर्श और वाणी का स्वातंत्र्य नितांत आवश्यक है। प्रत्यक्ष अनुभूतियों का अभ्यास उससे भी अधिक आवश्यक है। इन पर बेडियां लगी हों तो समझो हम सत्य और धर्म से दूर भटक रहे हैं।

अनुमान और प्रत्यक्ष सत्य का गठबंधन बड़ा कल्याणकारी होता है। जो अनुभव करें उसे बौद्धिक स्तर पर समझें और जिसे बौद्धिक स्तर पर समझें उसे अनुभूतियों के स्तर पर जानें, यही सत्य-शोध है। इस सत्य-शोध में शब्द-सत्य भूमिका और मार्ग-निर्देशन का कार्य करता है, बशर्ते कि हम उसका उपयोग खुले दिमाग से करें। लेकिन जब सत्य का शोधक किसी पूर्व-मान्यता का पक्षधर हो जाता है तो सत्य का अनुसंधान छूट जाता है। फिर तो जीवन भर येन-केन-प्रकारेण अपनी मान्यता को सत्य सिद्ध करने में ही सारा परिश्रम लगा देता है।

किसी महापुरुष की अनुभूति-सिद्ध वाणी हो, उस पर हमारी बुद्धि की कसौटी की परख हो और उसके आधार पर हमारा प्रत्यक्षानुभूति का अभ्यास हो तो सत्य-धर्म का रथ ठीक दिशा में आगे बढ़ता है और गंतव्य तक पहुँचाता है। सत्य के इन तीनों महत्त्वपूर्ण अंगों का ठीक-ठीक उपयोग करते हुए हम असत्य से सत्य की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, बंधन से मुक्ति की ओर, बढ़ते चलें। इसी में हम सबका कल्याण, मंगल, भला समाया हुआ है।